क्रांतिकारी जन-दिशा

भारत में मजदूर-वर्ग का आंदोलन एक शताब्दी से ज्यादा पुराना है। इसका अग्रणी रूप कम्युनिस्ट आंदोलन भी आठ दशक से ज्यादा अरसे से विद्यमान है, उसके पास स्वयं अनुभवों की मात्रा एवं विविधता की कोई कमी नहीं है। इसके अलावा उसके पास गैर-कम्युनिस्ट शक्तियों के आंदोलनों का सार-संकलन करके अपनी समझदारी को समृद्ध बनाने के लिए बहुत कुछ है। इतने कुछ के बावजूद भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के लिए क्रांतिकारी जन-दिशा का प्रश्न आज भी एक पेचीदा तथा अनसुलझा प्रश्न बना हुआ है। यह अनसुलझा इस अर्थ में नहीं है कि हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों में इसे सिद्धान्ततः अस्वीकार करने की प्रवृत्ति है। हमारे देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी सिद्धान्ततः क्रांतिकारी जन-दिशा की ही बात करते हैं। परन्तु जब हम व्यवहार में उतरते हैं तब ठोस व्यवहार और विभिन्न प्रश्नों/मुद्दों पर ली गयी अवस्थितियों से बार-बार इस सम्बन्ध में हमारी सैद्धान्तिक समझदारी की 'वामपंथी' कमियां/ भटकाव ही नहीं उजागर होते रहे हैं वरन हमारी समझदारी का दक्षिण पंथी चरित्र भी अकसर उजागर होता है। हमारे यहां स्थिति इतनी बुरी है कि हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन के कुछ घटक देश के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर को जन-दिशावादियों (Mass-liners) और सशस्त्र-संघर्षवादियों के बीच ध्रुवीकृत मानते हैं और इस ध्रुवीकरण को बढ़ाकर वे भारत में क्रांति को आगे बढ़ाना चाहते हैं। इन साथियों की पहुंच (Approach) से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो सशस्त्र-संघर्ष के संचालन मे क्रांतिकारी जनदिशा पर अमल सम्भव ही न हो। उलटे जनदिशा की अपनी समझदारी पर अमल करते हुए इन साथियों को यह संदेह भी नहीं होता है कि वस्तुतः उनकी जन-दिशा में क्रांतिकारिता गायब होती जा रही है और वे दक्षिणपंथी दल-दल में धंसते जा रहे हैं। का. कानू सान्याल के नेतृत्व में नवगठित सी.पी.आइ.(एम.एल.) की उक्त समझदारी को सांकेतिक मान कर यदि छोड़ भी दिया जाय तो भी चुनावों में हिस्सेदारी करने या न करने के पीछे की समझ, ट्रेड-यूनियनों में हिस्सेदारी के प्रति संजीदगी व पहुंच, क्रांति में मजदूर वर्ग की नेतृत्वकारी भूमिका के प्रति पहुंच इत्यादि लगभग हर सवाल पर हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में क्रांतिकारी जनदिशा से भटकाव उजागर होते ही रहते हैं।

यह भी देखने में आ रहा है कि क्रांतिकारी जन-दिशा की अनिवार्यता को औपचारिक अर्थों में स्वीकार करने के बावजूद हमारे देश के क्रांतिकारी कम्युनिस्ट आंदोलन में इस प्रश्न पर विचलन महज विच्युति (abberation) के स्तर का ही नहीं है, कि यह विचलन भटकाव (deviation) के स्तर का है। अर्थात हमारी कमी केवल इतनी नहीं है कि हम क्रांतिकारी जन-दिशा पर सिद्धान्ततः तो ठीक-ठाक समझ रखते हैं मगर इस पर अमल करते समय हम से चूकें हो जाती हैं। हमारी कमी ऐसी विच्युत्ति के स्तर से कहीं गम्भीर है। क्रांतिकारी जन-दिशा से हमारे विचलन का एक बड़ा कारण यह है कि क्रांति के इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर हमारी सैद्धान्तिक समझदारी भी कमजोर व उथली रही है। और इस कारण से भटकावों को जन्म देती रही है। बाज मौकों पर तो इस प्रश्न पर हमारी सैद्धान्तिक समझदारी प्रत्यक्षतः ही गलत रही है और समय से ठीक न हो पाने पर उसने कुछ संगठनों के क्रांतिकारी राजनीति से ही बाहर जाने (departure) में योगदान किया है। आज भी हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर में, क्रांतिकारी जन-दिशा का सवाल एक अनसुलझा व पेचीदा प्रश्न है यद्यपि इसके अमल पर हमारे बीच औपचारिक सहमति है। अतः सैद्धान्तिक स्तर पर इस प्रश्न से जूझना और इसे सुलझाने की गरज से इसकी गहराई में जाना हमारा कार्यभार अब भी बना हुआ है। इस आलेख में हम इस दिशा में प्रयत्न करेंगे। यहां हम क्रांतिकारी जन-दिशा के सैद्धान्तिक आधार और उसके अनिवार्य तत्वों के निरूपण के पश्चात भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के दो बड़े अनुभवों की रोशनी में इस प्रश्न की गहराई में जाने की कोशिश करेंगे और फिर अन्त में कुछ जरूरी बातों पर जोर देंगे।

I
जन-दिशा की अवधारणा

यदि कोई पार्टी या संगठन जनता की मानसिकता व मूड के प्रति संवेदनशील है या दूसरे शब्दों में कहा जाय तो जनता की नब्ज पर उसका हाथ है और वह जनता की मानसिकता व मूड के अनुरूप ऐसे कार्यक्रम व सांगठनिक रूप पेश कर रहा है जिनमें मेहनतकश वर्गों के सदस्यों का आपसी अलगाव टूटता हो, उनकी पहलकदमी खुलती हो और अपने शोषण व उत्पीड़न को घटाने के लिए वे बढ़ती तादाद में इन संगठनिक रूपों व कार्यक्रमों में भागीदारी कर रहे हों तो सामान्यतः हम मान लेते हैं कि जन-दिशा लागू हो रही है। उलटे यदि कोई पार्टी या संगठन जनता की मानसिकता अथवा मूड को भांपने में असफल हो, या फिर वह वास्तविक मानसिकता व मूड के अनुरूप ऐसे सांगठनिक रूप व कार्यक्रम नहीं पेश कर पा रहा हो जिन में मेहनतकश वर्गों के सदस्यों की पहलकदमी खुलती हो एवं भागीदारी बढ़ती

हो तो सामान्यतः यह मान लिया जाता है कि उस पार्टी-संगठन में जनदिशा के प्रश्न पर विच्युतियां अथवा भटकाव मौजूद हैं। सर्वहारा के किसी पार्टी-संगठन के लिए जन-दिशा का उक्त बोध न केवल अपर्याप्त है, यह गलत भी है। जन-दिशा का ऐसा बोध किसी सुधारवादी पार्टी/संगठन का बोध तो हो सकता है मगर वह सर्वहारा के पार्टी-संगठन का बोध नहीं हो सकता।

मानव-समाज में हर चीज की तरह जनदिशा की भी कोई निरपेक्ष समझदारी नहीं होती है। जन-दिशा भी वर्ग-सापेक्ष होती है। किन्हीं जनवादी बुर्जुआ या पेटी-बुर्जुआ वर्गों/तबकों के लिए जो चीज जन-दिशा हो सकती है, यह जरूरी नहीं कि सर्वहारा वर्ग के लिए भी वह चीज जन-दिशा हो। मानव समाज के सभी अन्य वर्गों/तबकों से पृथक सर्वहारा का ऐतिहासिक मिशन शोषण-उत्पीड़न के हर रूप के खात्मे की मांग करता है, वर्ग-विहीन, राज्य-विहीन समाज की स्थापना की मांग करता है, उस ऐतिहासिक मुकाम को हासिल करने की मांग करता है जहां समाज के आन्तरिक अंतर्विरोधों को सुलझाने के लिए किसी भी तरह के जन-संघर्ष अप्रासंगिक हो जायें और एक अवधारणा के बतौर जनदिशा स्वयं औचित्यहीन हो जाये। इस विलक्षण ऐतिहासिक मिशन के कारण ही सर्वहारा के दीर्घकालिक हित मानव-समाज के निरन्तर क्रांतिकारीकरण की मांग करते हैं। अतः सर्वहारा की जन-दिशा एक क्रांतिकारी जन-दिशा ही हो सकती है, जबकि अन्य वर्गों/तबकों के लिए समाज विकास की अलग-अलग मंजिलों में जन-दिशा गैर क्रांतिकारी, सुधारवादी या कभी-कभार प्रतिक्रियावादी (मसलन समाजवादी चीन के जमाने में तिब्बत को चीन से अलग करने के लिए तिब्बती लामाओं के नेतृत्व में संघर्ष) भी हो सकती है।

साम्यवाद में दाखिले के पहले समाज में विभिन्न वर्गों-तबकों के मुक्ति के तमाम अभियानों में सर्वहारा की भी दिलचस्पी एवं पुरजोर भागीदारी होती है। ऐसी स्थितियों में यह प्रतीत होता है कि सर्वहारा की जन-दिशा में और दूसरे उत्पीड़ित वर्गों/तबकों की जन-दिशा में कम से कम व्यावहारिक धरातल पर कोई अन्तर नहीं है। मगर यह सच्चाई नहीं है। बात को समझने के लिए किसी गुलाम देश के राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के काल खण्ड को लिया जाय। ऐसे काल खण्ड में विदेशी गुलामी से मुक्ति अन्य देशभक्त ताकतों के साथ-साथ सर्वहारा का भी फौरी कार्यभार होता है। ऐसी स्थिति में किसी को लग सकता है कि सर्वहारा की पार्टी भी वही नारे एवं वैसे ही कार्यक्रम देगी जैसे नारे व कार्यक्रम अन्य देशभक्त ताकतें दे रही हैं। अतः व्यावहारिक धरातल पर जन-दिशाओं में कोई भेद नहीं होना चाहिये। दरअसल यदि राष्ट्रीय आजादी के आकांक्षी सभी वर्ग अपने-अपने दूरगामी हितों के प्रति पूर्ण सजग हैं तो व्यवहारिक धरातल पर उनकी जन-दिशाओं में संगतता (Compatibility) तो हो सकती है मगर वे एक ही नहीं हो सकतीं। सर्वहारा की पार्टी की जन-दिशा किसी पेटी-बुर्जुआ या किसी अन्य राष्ट्रवादी ताकत की जन-दिशा से पूर्ण मेल तब ही खा सकती है जब सर्वहारा की पार्टी साम्यवाद को छोड़कर अपने आप को एक राष्ट्रवादी पार्टी के स्तर पर गिरा ले। यदि सर्वहारा की पार्टी साम्यवाद के प्रति वफादार है तो ठोस व्यावहारिक जमीन पर उसकी जन-दिशा की दो विशेषतायें ऐसी होगी जो उसे अन्य सभी राष्ट्रवादी शक्तियों से अलग करेंगी- एक यह कि इस पूरे राष्ट्र मुक्ति दौर में कभी भी वह अपना वर्गीय प्रचार (साम्यवाद की वकालत) एवं वर्गीय प्रश्नों पर उद्वेलन बंद नहीं करेगी; दूसरी यह कि किसी भी अन्य ताकत की तुलना में वह अधिकतम आजादी यानी कि साम्राज्यवाद से पूर्ण व अनुत्क्रमणीय विच्छेद के लिए उद्वेलन व संघर्ष करेगी। साम्राज्यवाद से पूर्ण व अनुत्क्रमणीय विच्छेद की उसकी अवस्थिति (जिस पर शेष वर्ग-सचेत ताकतें कम या ज्यादा मात्रा में ढीली होती हैं) संघर्षरत जनता की नजर में उसे राष्ट्र मुक्ति संघर्ष का नेता बनाती है। चीन अथवा वियतनाम के राष्ट्र मुक्ति संघर्षों में उक्त उग्र साम्राज्यवाद विरोधी अवस्थिति पर दृढ़ता से कायम रहकर इन देशों की कम्युनिस्ट पार्टियों ने **क्रांतिकारी** जन-दिशा पर अमल किया, जब कि भारत में 1940 के दशक में हमारी सी.पी.आई, इसी कसौटी पर ढीली पड़ गयी।

आज जब हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी शिविर में दक्षिणपंथी विचारों की बयार बह रही है तब जन-दिशा के प्रश्न पर इस बात को स्थापित करना कि जन-दिशा भी वर्ग-सापेक्ष होती है और सर्वहारा की जन-दिशा को हर हालत में क्रांतिकारी होना चाहिये, कि अन्य सुधारवादी जन-दिशाओं से इसका भेद संघर्षरत आम जन के लिए स्वतः उजागर होना चाहिए, निहायत जरूरी है। दक्षिणपंथी विचारों के वर्चस्व के वर्तमान माहौल में हमें बार-बार इस बात को स्थापित करना पड़ेगा कि सर्वहारा के ऐतिहासिक मिशन को अनदेखा करके (या इसे सुदूर भविष्य का कार्यभार मानकर) जो भी जन-दिशा निरूपित की जाती है वह ज्यादा से ज्यादा सुधारवाद हो सकती है। हमें इस बात को भी बार-बार याद करना पड़ेगा कि अपनी जन-दिशा को सुधारवादी व पिछलग्गू बना देने की गलती हम अतीत में कई बार कर चुके हैं। इसलिए जन-दिशा पर विचार करते समय हमारे लिए अहम् प्रश्न केवल जन की पहलकदमी व जन-भागीदारी का ही नहीं है, बल्कि जन-दिशा के क्रांतिकारी चरित्र का प्रश्न भी हमेशा ही बहुत महत्वपूर्ण रहा है और आज जन-दिशा के इस पहलू के प्रति और भी सजग होने की जरूरत है।

हर कम्युनिस्ट पार्टी-संगठन को अपने देश व जमाने की परिस्थितियों के अनुसार अपनी **क्रांतिकारी** जन-दिशा तय करनी होती है। कम्युनिस्ट पार्टी-संगठनों की क्रांतिकारी जन-दिशा उन पार्टी-संगठनों की राजनीतिक कार्यदिशा को समाज में सृजनात्मक ढंग से लागू करने का माध्यम होती है। यह पार्टी-संगठन की राजनीतिक कार्यदिशा का वह रूप होता है जो आम जन के लिए बोधगम्य व ग्राह्य होता है। अतः यदि कम्युनिस्ट पार्टी- संगठन की राजनीतिक कार्यदिशा देश-काल की स्थितियों के अपूर्ण अथवा गलत विश्लेषण पर आधारित है तब इस बात की कोई सम्भावना नहीं होती है कि वह पार्टी-संगठन समाज के स्तर पर ऐसे नारे प्रस्तुत कर सके, ऐसे कार्यक्रम दे सके, जन संगठनों के ऐसे रूप खड़े कर सके जो क्रांति के लक्ष्य को हासिल करने के लिए उत्पीड़ित-शोषित जन की लामबंदी कर सकें, जो क्रांति कार्य की ओर व्यापक जन को प्रेरित कर सकें। यह बात एक मिथक के सिवाय कुछ नहीं है कि 'फलां संगठन की राजनीतिक कार्यदिशा तो ठीक

नहीं है, मगर उसकी जन-दिशा बढ़िया है'। यदि किसी पार्टी-संगठन की राजनीतिक कार्यदिशा, क्रांति की वास्तविक कार्यदिशा की अभिव्यक्ति नहीं है तो उस संगठन को जन-कार्यवाहियों के दौरान मिलने वाली तात्कालिक सफलतायें ज्यादा से ज्यादा इस बात की अभिव्यक्ति होती हैं कि वह पार्टी-संगठन किसी सुधारवादी जन-कार्यक्रम पर अमल कर रहा है और उससे उत्पीड़ित-शोषित जन को कुछ तात्कालिक राहत मिल रही होगी। क्रांति की वास्तविक कार्यदिशा से बेमेल, किसी पार्टी-संगठन की गलत राजनीतिक कार्यदिशा ज्यादा से ज्यादा एक सुधारवादी जन-दिशा का रूप ग्रहण कर सकती है, वह कभी भी जन कार्यवाहियों के स्वतः परिणामों के फलस्वरूप एक क्रांतिकारी जन-दिशा में अपने तयीं तब्दील नहीं हो सकती। उसे एक सुधारवादी जन-दिशा से क्रांतिकारी जन-दिशा में तब्दील करने का काम पार्टी-संगठन का कार्य है, और यह तभी सम्भव है जब सम्बन्धित पार्टी-संगठन पहले अपनी मूल राजनीतिक कार्यदिशा ठीक करे। यह बात अपनी जगह सही है कि क्रांतिकारी परिस्थितियों में जन-गोलबंदी एवं जन-संघर्ष के विविध रूप स्वतः स्फूर्त तरीके से अस्तित्व में आ जाते हैं जैसे कि 1905 व 1917 में सोवियतें अस्तित्व में आ गयी थीं या फिर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रांति के दौरान क्रांतिकारी कमेटियां अस्तित्व में आ गयी थीं। मगर क्रांतिकारी समयों के ये रूप भी क्रांति के वाहक तब ही बन सके जब रूस व चीन में इन्हें आगे बढ़ाने वाली काबिल कम्युनिस्ट पार्टियां थीं जिन्होंने क्रांति की कार्यदिशा ठीक से समझ व पकड़ रखी थी। यदि रूस व चीन की कम्युनिस्ट पार्टियों की क्रांति की कार्यदिशा पर पकड़ ढीली हो जाती तो ये सोवियतें एवं क्रांतिकारी कमेटियां भी पहले सुधारवादी और बाद में जीर्ण-क्षीर्ण तथा यथास्थितिवादी होकर रह जातीं। अतः सही राजनीतिक कार्यदिशा के अभाव में सही जन-दिशा, क्रांतिकारी जन-दिशा पर अमल असम्भव है। अपने राजनीतिक नौसीखियेपन में हम अक्सर सुधारवादी किस्म की जन कार्यवाहियों को क्रांतिकारी जन-कार्यवाहियां महज इसलिए मान लेते हैं क्योंकि उन्हें प्रोत्साहित करने वाली टीम कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की कोई टोली होती है। यह प्रवृत्ति घातक है क्योंकि यदि हम इस तरह के राजनीतिक नौसीखियेपन से मुक्त नहीं होंगे तो हम दरअसल क्रांतिकारी जन-दिशा को निरूपित करने एवं विकसित करने में कोई सार्थक योगदान नहीं कर पायेंगे।

इतने से यह तो स्पष्ट है कि अलग-अलग समाजों में, अलग-अलग समयों में क्रांतिकारी जन-दिशा भी अलग-अलग होगी। अर्थात् जनगोलबंदी के रूप एवं जन-संघर्ष के नारे उस देश-काल में क्रांति के फौरी कार्यभारों की प्रकृति से निर्धारित हो रहे होते हैं। अतः हर देश काल की क्रांतिकारी जन-दिशा अपने किस्म की होगी। उसे दूसरी जगह या दूसरे समय में दोहराया नहीं जा सकता है। लेकिन इस विविधता के बावजूद कुछ ऐसी बातें जरूर हैं जिन पर कोई भी क्रांतिकारी जन-दिशा आधारित होती है। यानी कि इन मूलभूत बातों की अवहेलना करके किसी क्रांतिकारी जन-दिशा का निरूपण असम्भव है। इसीलिए जब मार्क्सवादी 'क्रांति के विज्ञान' की बातें करते हैं तो वे गलत थीसिस पेश नहीं कर रहे होते हैं। क्रांति का निहायत कलात्मक व सृजनशील पक्ष, क्रांतिकारी जन-दिशा का सवाल, भी 'क्रांति के विज्ञान' से निर्धारित होता है। कोई भी क्रांतिकारी जन-दिशा, तीन मूलभूत बातों की अवहेलना करके निरूपित नहीं की जा सकती है। वे हैं-

1- जनता और केवल जनता ही दुनिया के इतिहास का निर्माण करने वाली प्रेरक शक्ति होती है।

2- जनता से लो और जनता को दो।

3- क्रांतिकारी चेतना, मजदूर वर्ग (एवं अन्य मेहनतकश वर्गों) के दैनंदिन संघर्ष के परिणाम स्वरूप अस्तित्व में नहीं आ सकती है, इसे बाहर से ही डालना पड़ता है।

हम पहले ही अर्ज कर चुके हैं कि हमारे देश के कम्युनिस्ट आंदोलन में क्रांतिकारी जन-दिशा के सवाल पर विचलन महज व्यावहारिक विच्युतियों के स्तर का ही नहीं रहा है, कि यह विचलन इससे कहीं ज्यादा गम्भीर रहा है, कि इस मसले पर सैद्धान्तिक गड़बड़ियों ने स्पष्ट भटकावों को जन्म दिया है और कभी-कभी तो मामला कम्युनिस्ट राजनीति से बाहर जाने का भी बन गया है। ऐसे में यह जरूरी है कि बुनियादी महत्व की तीनों प्रस्थापनाओं की थोड़ी-थोड़ी व्याख्या कर ली जाय ताकि गलत फहमियों की गुंजाइश न रहे और हम सैद्धान्तिक स्तर की अपनी गलतियों को ठीक से चिह्नित एवं अवस्थित कर सकें।

'केवल जनता ही इतिहास निर्माण की प्रेरक शक्ति होती है' का स्पष्ट अर्थ है कि कोई भी प्रगतिशील संगठन अथवा पार्टी चाहे वह कितनी ही उन्नत, समर्पित एवं बलिदानी क्यों न हो, केवल अपने कार्यकर्ताओं के दम पर समाज को आगे नहीं ले जा सकती है। उसे अपने अभीष्ट को हासिल करने के लिए व्यापकतम जन-गोलबंदी करनी होगी और उसे तब तक इंतजार करना पड़ेगा जब तक उस काम को करने के लिए जन समुदाय स्वयं संकल्पबद्ध नहीं हो जाता है। कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं को जनता के साथ क्या सम्बंध स्थापित करना चाहिये, इस बात को माओ ने यूं परिभाषित किया है-

> "...जन-समुदाय के साथ सम्बंध स्थापित करने के लिए, उन्हें (अर्थात कम्युनिस्टों को - ला. स.) जन-समुदाय की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं के अनुरूप काम करना चाहिये। जन-समुदाय के लिए किये जाने वाले तमाम कार्यों का आरम्भ उसकी आवश्यकताओं के आधार पर होना चाहिये न कि किसी व्यक्ति की सदिच्छाओं के आधार पर। ऐसा अक्सर देखने में आता है कि वस्तुगत रूप से तो जन-समुदाय के लिए किसी परिवर्तन की आवश्यकता है, लेकिन मनोगत रूप से वह इस आवश्यकता के प्रति अभी जागरूक नहीं हो पाया, इस परिवर्तन को करने के लिए अभी तैयार अथवा संकल्पबद्ध नहीं हो पाया है। ऐसी स्थिति में हमें धीरज के साथ इंतजार करना चाहिये। हमें यह परिवर्तन तब तक नहीं लाना चाहिये जब तक हमारे कार्य के जरिये जन-समुदाय का अधिकांश भाग उक्त आवश्यकता के प्रति जागरूक न हो जाय तथा वह उसे कार्यान्वित करने के लिए तैयार और संकल्पबद्ध न

हो जाय। अन्यथा हम जन-समुदाय से अलग हो जायेंगे। जब तक जन-समुदाय जागरूक और तैयार नहीं हो जाता, तब तक कोई भी ऐसा काम जिसमें उसके शामिल होने की जरूरत है, महज एक खानापूरी करने के समान होगा तथा वह असफल हो जायेगा।....यहां दो उसूल हैं: पहला उसूल है जन-समुदाय की वास्तविक आवश्यकतायें, न कि हमारे द्वारा उसके लिए कल्पित आवश्यकताएं; तथा दूसरा उसूल है जन-समुदाय की आकांक्षायें, उसे अपना संकल्प खुद करना चाहिये न कि हमें उस पर अपना संकल्प लाद देना चाहिए। (माओ त्से-तुंङ; 'सांस्कृतिक कार्य में संयुक्त मोर्चा', संकलित रचनाएं, ग्रन्थ-3, पृष्ठ-334-335)

आधुनिक इतिहास में यह बात बार-बार साबित हुई है, कि व्यापक जनता से कटकर व्यापक जनता के हित में कोई स्थायी परिवर्तन सम्भव नहीं है। यह देखने में आया है कि कुछ जांबाज, समर्पित लोग कभी-कभार सत्ता दखल करने में तो सफल रहे हैं मगर वे समाज को बदल कर इतिहास निर्माण नहीं कर पाये, कि उनके द्वारा सत्ता दखल के बावजूद समाज उसी हद तक बदला जिस हद तक के परिवर्तन के लिए व्यापक जन-समुदाय तैयार थे। अतः कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ताओं को सूरमागिरी और जन-नायकत्व के बीच के बुनियादी भेद को समझना चाहिये और इस बात का खास ख्याल रखना चाहिये कि वे जन-समुदाय को उसका संकल्प स्वयं करने का मौका देने के बजाय, अपने उतावलेपन में कहीं 'उस पर अपना संकल्प लाद' तो नहीं रहे हैं? यदि वे जन-समुदाय पर अपने उतावलेपन में अपना संकल्प लाद रहे हैं तो यह 'वामपंथी' भटकाव है। उल्टे यदि वे जन-समुदाय में निरंतर राजनीतिक प्रचार के श्रम-साध्य काम (जो कि जन-समुदाय को इस लायक बनाता है कि वह क्रांति कार्यों का संकल्प ले सके) में ढीले हैं तो वे अपने दायित्व से पलायन कर रहे होंगे।

'जनता से लो, जनता को दो' का क्या मतलब एवं महत्व है? यदि कोई कम्युनिस्ट पार्टी-संगठन संजीदगी से इस सिद्धान्त पर अमल नहीं करता है तो उसके द्वारा निरूपित बातों में सृजनात्मकता व कलात्मकता समाहित नहीं हो पायेंगी, उसके कार्यक्रम व नारे निर्जीव व पंडिताऊ ही बने रहेंगे और वह व्यापक समाज के स्तर पर जो कुछ भी करे वह नवीन, रोचक व स्फूर्ति दायक नहीं होगा। ऐसी चीज मेहनतकश जन की पहलकदमी खोलना तो दूर उसे आकर्षित भी नहीं कर पाती है। ऐसी चीज को जन-दिशा नहीं माना जा सकता है। जन-दिशा तभी अस्तित्व में आ सकती है जब कम्युनिस्ट पार्टी-संगठन के कार्यकर्ता यह स्वीकार करें कि आम लोग न केवल कर्ताओं की हैसियत से इतिहास का निर्माण करते हैं, बल्कि वे एक हद तक सही विचारों के स्रोत भी होते हैं, कि सही विचार व्यापक जन-समुदाय के बीच से पैदा होते हैं, और उसके संघर्षों की सेवा भी करते हैं। अपने रोजमर्रा के उत्पादन तथा वर्ग-संघर्ष में तथा भांति-भांति के छोटे-मोटे वैज्ञानिक प्रयोगों के दौरान आम-जन ढेर सारा अव्यवस्थित एवं छितराया हुआ ज्ञान हासिल कर लेते हैं। इस तथ्य को स्वीकारने के साथ ही पार्टी-संगठन अपनी नेतृत्वकारी भूमिका में उतरता है। वह इन छितराये हुए, अव्यवस्थित, अपूर्ण विचारों-अनुभवों को एकत्र करता है और वैज्ञानिक समाजवाद के सिद्धान्तों के आलोक में इनका सार-संकलन करता है। इनमें से जो सही हैं अर्थात् जो समाज विकास से सुसंगत हैं और वर्ग-संघर्ष को गति देने में योगदान कर सकते हैं, पार्टी-संगठन उनका संकेन्द्रण करता है। वह इनको परिष्कृत करता है। इन संकेन्द्रित व परिष्कृत विचारों को वह जनता को लौटाता है, यानी कि उन्हें लगातार वह जनता के बीच ऐसी भाषा व ऐसे तौर-तरीकों से प्रचारित करता है कि आम-जन के ये संकेन्द्रित विचार भी उतने ही सहज हों जितने उसके अपने आरम्भिक अव्यवस्थित व छितराये हुए विचार-अनुभव थे। कम्युनिस्ट पार्टी-संगठन के द्वारा इन संकेन्द्रित बातों के निरंतर प्रचार और इनके आधार पर जन-संघर्षों की अगुवाई के दौरान ये विचार लाखों-लाख जनता की अपनी बात बन जाते हैं, ये विचार एक विराट भौतिक शक्ति बन जाते हैं जो कि वर्ग-संघर्ष के जरिये दुनिया का रूपांतरण कर सकते हैं। जनता से लेने, और जनता को देने की इस सृजनात्मकता प्रक्रिया को जन-दिशा लागू करना कहा जाता है।

'जन समुदाय में क्रांतिकारी चेतना बाहर से रोपनी पड़ती है'। पहली नजर में ऐसा लगता है कि जैसे यह बात ऊपर लिखे पैरा की बात 'जनता से लो, जनता को दो' का निषेध करती हो, यदि हमारा संदर्भ क्रांति है। मगर यह सत्य नहीं है। यदि हमारा संदर्भ क्रांति है, तब भी दोनों सूत्र एक-दूसरे का निषेध नहीं हैं। जनता से लेने और जनता से लिए ज्ञान को परिष्कृत व उन्नत करके लौटाने की सीमायें हैं। इतने से जन-समुदाय को क्रांतिकारी निष्कर्षों से लैस नहीं किया जा सकता है। यहां समस्या यह है कि मेहनतकश जन का दैनंदिन जीवन- उसके द्वारा किये जाने वाले उत्पादन-संघर्ष, वर्ग-संघर्ष व छोटे-मोटे वैज्ञानिक प्रयोग- से जो विचार उपजते हैं वे भी समाज-विकास के नियमों से संगत तभी हो पाते हैं जब समाज-विकास के विज्ञान को समझने वाले लोग, यानी कि कम्युनिस्ट पार्टी के कार्यकर्ता, उनका संश्लेषण करते हैं। मगर तब भी मूल स्रोत (जन-समुदाय के दैनंदिन अनुभव) से उपजने वाले विचारों की मात्रा व गुण की सीमायें होती हैं। ये सामान्यतः ऐसे विचार नहीं होते हैं जो कि संश्लेषण के उपरांत भी इतिहास की क्रांतिकारी छलांगों की समझ दें। और ये ऐसे विचार तो नहीं ही होते हैं जो कि मानव-इतिहास की उन क्रांतिकारी छलांगों का ज्ञान हों जिन छलांगों के जरिये क्रांतिकारी-वर्ग हजारों सालों से चली आ रही निजी सम्पत्ति की व्यवस्थाओं का निषेध करते हैं। मजदूर वर्ग और अन्य मेहनतकश वर्गों के दैनंदिन जीवन से उपजे विचार, वैज्ञानिक संश्लेषण के उपरांत, ऐसे विचार जरूर होते हैं जो मानव-समाज के मात्रात्मक विकास का मार्ग आलोकित करते हैं। मगर यदि हम चाहते हैं कि उत्पीड़ित-शोषित वर्ग मानव-इतिहास की गुणात्मक छलांगों में भी बढ़-चढ़कर व्यापक हिस्सेदारी करें और पहलकदमी लें, यानी कि जन-क्रांतियों को अंजाम दें तो हमें वर्षों नहीं दशकों के अथक प्रचार से जन समुदाय में बाहर से इतिहास की गुणात्मक छंलागों की समझदारी (यानी कि क्रांतिकारी चेतना) रोपनी पड़ेगी। सचेत इतिहास निर्माण के वर्तमान दौर में, जन-समुदाय के दरमियान, क्रांतिकारी चेतना को रोपने के इस काम से यदि किनाराकशी की जाती है या इसमें ढिलाई बरती जाती है तो जो जन-दिशा लागू हो रही होगी वह

सर्वहारा क्रांतियों के लिए जरूरी **क्रांतिकारी** जन-दिशा नहीं होगी। तब वह महज एक सुधारवादी जन-दिशा होगी। यानी कि सर्वहारा से इतर किसी पेटी-बुर्जुआ वर्ग या किसी जनवादी तबके की जन-दिशा होगी।

समाज के बलात् आमूलचूल, क्रांतिकारी परिवर्तन की समझदारी को जन-समुदाय के बीच लोकप्रिय अंदाज में स्थापित करना क्रांतिकारी जन-दिशा को लागू करने का सबसे पेचीदा पक्ष है। यह कम्युनिस्ट कार्यकर्ताओं से सबसे ज्यादा सृजनशीलता व कलात्मकता की मांग करता है क्योंकि यहां हम जनता को परिष्कृत व उन्नत रूप में वह नहीं लौटा रहे हैं जो एक अर्थ में उसके अपने दैनंदिन जीवन से पैदा हुआ है। यहां हम उसे बिल्कुल नया और काफी हद तक अमूर्त ज्ञान परोस रहे होते हैं। इस नये व अमूर्त ज्ञान का जितना खूबसूरत, जितना मुकम्मिल संयोजन जन-दिशा के उस पक्ष के साथ होगा जो कि 'जनता से लेने, जनता को देने' के दौरान उत्पन्न होता है, उतना ही यह जन के लिए ग्राह्य होगा। इस मामले में बहुत कुछ इस पर निस्संदेह निर्भर करता है कि कम्युनिस्ट पार्टी-संगठन कितनी शिद्दत के साथ 'जनता से लो, जनता को दो' के सिद्धान्त को लागू कर रहा है, क्योंकि यदि पार्टी-संगठन गम्भीरता से इस काम में लगा हुआ है तो वह जनजीवन के ज्यादा करीब होगा और वह मुकम्मिल क्रांति की नई व अमूर्त अवधारणा को भी जन-भाषा में परोस सकेगा। उल्टे यदि पार्टी-संगठन जन-जीवन, जन के आशिंक संघर्षों (आर्थिक व राजनीतिक दोनों) से कटा हुआ है तब क्रांति की अवधारणा की उसके द्वारा प्रस्तुति निर्जीव व पंडिताऊ बनी रहने के लिए अभिशप्त है। इस बात की अच्छी-खासी सम्भावना होती है कि किसी पार्टी-संगठन ने समाज की स्थितियों का सही विश्लेषण कर लिया हो और सही कार्यक्रम भी सूत्रित कर लिया हो, यानी कि क्रांति की वास्तविक कार्यदिशा खोज ली हो मगर वह इसे क्रांतिकारी जन-दिशा का रूप देने में इसलिए असफल हो जाये क्योंकि वह जनता के आंशिक संघर्षों (आर्थिक व राजनीतिक) की अगुवाई न कर रहा हो, क्योंकि वह जन-जीवन से अच्छा खासा कटा हुआ हो। ऐसी स्थिति में वह अप्रासंगिक होकर रह जायेगा। कोई पार्टी-संगठन तब भी अप्रासंगिक हो सकता है जब उसके कार्यकर्ता तो जन-कार्यवाहियों में शरीक हों मगर उसके नेतृत्व ने स्वयं को बंद कमरों में समेट लिया हो। ऐसी स्थिति में अपने नेतृत्व के अलगाव (व तद्जन्य पिछड़ेपन) की कीमत पूरे पार्टी-संगठन व समाज को इसलिए चुकानी पड़ेगी क्योंकि वह कोई समाकलित क्रांतिकारी जन-दिशा विकसित नहीं कर पायेगा। एक ओर संगठन की जन-कार्यवाहियां सुधारवादी होंगी और दूसरी ओर उसके द्वारा क्रांति का प्रचार पंडिताऊ होगा। चूंकि निर्वासन एवं भूमिगत जीवन की बंदिशों के बावजूद लेनिन व अन्य बोल्शेविक नेताओं ने यह गलती नहीं की इसीलिए वे अपनी सही कार्यदिशा को क्रांतिकारी जन-दिशा का रूप दे पाये। हमारे यहां, वर्तमान समय में, मजदूरों व मेहनतकश जनता के आंशिक संघर्षों से कटे रहते हुए क्रांति की अवधारणा को प्रचारित करने की कोशिशें हो रही हैं।

II
इतिहास के दो महत्त्वपूर्ण अनुभव

जन-दिशा की अवधारणागत बातों के आलोक में अब हम अपने देश के कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास के दो महत्त्वपूर्ण अनुभवों की चर्चा करेंगे। पहले हम **1939-1943** के दौर की चर्चा करेंगे और फिर हम **1967-1972** के दौर की चर्चा करेंगे। ये दोनों कालखण्ड हमारे देश के कम्युनिस्ट आंदोलन के इतिहास में बहुत महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि इन दोनों कालखण्डों में पहले कम्युनिस्टों ने जनता पर आधारित होकर क्रांति को आगे बढ़ाने की कोशिशें की और फिर वे भटकावों का शिकार हो गये। अर्थात् आरम्भ में कम्युनिस्टों ने क्रांतिकारी जन-दिशा पर अमल करने की कोशिश की और फिर जब वे दक्षिणपंथी या 'वामपंथी' भटकावों के शिकार हो गये तो पूंजीपति वर्ग ने जन-आक्रोश को अपने झंडे तले समेटा- **1942** का 'भारत छोड़ो आंदोलन' और **1970** के दशक के पूर्वार्ध का जे.पी. आंदोलन। ये दोनों नकारात्मक अनुभव हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं क्योंकि यदि हम पहले कालखण्ड में दक्षिणपंथी भटकावों के शिकार न होते और दूसरे में 'वामपंथी' भटकावों के शिकार न होते और सही ढंग से क्रांतिकारी जन-दिशा को लागू करते रहते तो हम इस देश के शोषित-उत्पीड़ित जनमानस के मुक्ति संघर्ष को कहीं आगे बढ़ा चुके होते। इन दोनों कालखण्डों में यदि हम क्रांतिकारी जन-दिशा से भटकावग्रस्त न हो गये होते तो इतना तो तय ही है कि हम राष्ट्रीय राजनीति की कार्यसूची को परिभाषित तो कर ही रहे होते, शायद हम सत्ता दखल की कगार पर भी पहुंच चुके होते।

आगे बढ़ने से पहले यहीं पर एक सफाई दे देना जरूरी है वह यह कि हम इन दोनों कालखण्डों में कम्युनिस्ट आंदोलन की कोई समग्र समीक्षा नहीं कर रहे हैं। यहां हम अपना ध्यान केवल क्रांतिकारी जन-दिशा के अमल, उससे भटकाव ग्रस्त होने और इन नकारात्मक अनुभवों से निकलने वाले कुछ जरूरी सबकों पर केन्द्रित करेंगे। हम न तो भारत के कम्युनिस्ट आंदोलन के अन्य पक्षों की समीक्षा करेंगे और न ही अंतर्राष्ट्रीय कम्युनिस्ट आंदोलन से उसके अंतर्सम्बंधों की समीक्षा करेंगे। इसके साथ-साथ यह भी सही है कि अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय संदर्भ को अनदेखा करके हम जन-दिशा के संदर्भ में कोई निष्कर्ष नहीं निकालेंगे। लेकिन फिर भी हम संदर्भ की विस्तृत व्याख्या नहीं करेंगे क्योंकि जन-दिशा ही हमारे आलेख की विषय वस्तु है और हम उस तक सीमित रहेंगे।

1939 से 1943

सितम्बर 1939 में दूसरा विश्व युद्ध शुरू हो गया, हालांकि मार्च 1939 में ही हिटलर की सेनाओं ने चेकोस्लोवाकिया पर कब्जा कर लिया था। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (C.P.I.) ने इस युद्ध का विरोध किया। उसने विश्व युद्ध से उत्पन्न स्थिति का मूल्यांकन किया और यह घोषणा की कि अंग्रेज सरकार अपने उपनिवेशों को आजादी नहीं देगी, कि वह ग्रेट ब्रिटेन में प्रतिक्रियावाद को प्रोत्साहित कर रही है और उपनिवेशों का शोषण बढ़ा रही है। ऐसी स्थिति में उसने भारत के लोगों के लिए यह कार्यभार निकाला कि वे युद्ध से उत्पन्न संकट का राष्ट्रीय आजादी हासिल करने के लिए क्रांतिकारी इस्तेमाल करें।

सी.पी.आई. ने अपने रणकौशल तय किये कि वह युद्ध से उत्पन्न आर्थिक संकट के विरोध में आर्थिक हड़तालें संगठित करेगी और सीधे-सीधे युद्ध के विरोध में राजनीतिक हड़तालें भी संगठित करेगी, कि इन हड़तालों को एक आंदोलन के रूप में विकसित करते हुए वह राष्ट्रव्यापी आम राजनीतिक हड़ताल का आह्वान करेगी, कि वह सशस्त्र सेनाओं में घुस पैठ करके मजदूर वर्ग के नेतृत्व में आम बगावत के जरिये राष्ट्रीय आजादी हासिल करने की कोशिश करेगी, कि इस अभियान में वह कांग्रेस पार्टी को जिस हद तक इस्तेमाल कर सकेगी, इस्तेमाल करेगी। सी.पी.आई. द्वारा जनता की मनोदशा का आंकलन बिलकुल सही था। 2 अक्टूबर 1939 के दिन सी.पी.आई. ने बम्बई में युद्ध के विरोध में राजनीतिक हड़ताल का आह्वान किया। इस हड़ताल में अभूतपूर्व 90,000 मजदूरों ने हिस्सेदारी की और यह दुनिया भर में द्वितीय विश्व युद्ध के विरोध में पहली राजनीतिक हड़ताल थी। देश के औद्योगिक केन्द्रों में जगह-जगह युद्ध उत्पन्न आर्थिक संकट के खिलाफ हड़तालें होने लगीं। 4 मार्च 1940 को बम्बई के 1,75,000 कपड़ा मजदूरों ने हड़ताल आरम्भ की जो कि 40 दिन चली। इसके समर्थन में अन्य मजदूरों ने 10 मार्च को हड़ताल की जिसमें 3,55,000 लोगों ने हिस्सेदारी की। इस दौरान सेना से 500 से अधिक सिपाही अपने हथियारों समेत भगौड़े हो गये। मार्च 1940 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का रामगढ़ में अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में सी.पी.आई. के प्रतिनिधियों ने "सर्वहारा पथ" (Proletarian Path) नाम से दस्तावेज वितरित किया जो कि वस्तुतः आम बगावत का आह्वान था। इससे पहले वह अपने स्वतंत्रता दिवस (26 जनवरी) घोषणा पत्र में ऐसी ही सार्वजनिक घोषणा कर चुकी थी।

मार्च 1940 से ब्रिटिश सरकार ने इस क्रांतिकारी उभार से सख्ती से निपटना शुरू किया। उसने फरवरी 1941 आते-आते 480 कम्युनिस्ट नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इसके बावजूद सी.पी.आई. के पोलित ब्यूरो ने जुलाई 1941 में पुनः यह नारा दिया कि युद्ध को एक क्रांतिकारी युद्ध में बदल डालो। मगर दिसम्बर 1941 आते-आते पार्टी अपने अभियान से पीछे हटनी शुरू हो गयी। उसने अब यह लाइन ली कि जून 1941 के बाद से, जब से हिटलर ने सोवियत संघ पर आक्रमण कर दिया है तब से युद्ध का चरित्र बदल चुका है और यह एक जन-युद्ध में तब्दील हो गया है जिसमें हमें फासीवाद-विरोधी शक्तियों के हाथ मजबूत करने चाहिए (अंग्रेज फासीवाद-विरोधी शक्तियों में शामिल थे)। इस मुकाम से जन-उभार बुर्जुआ नेतृत्व की कमान में सरकना शुरू हुआ और अगस्त 1942 आते-आते यह पूरी तरह कांग्रेस के हाथों में आ चुका था। सी.पी.आई. पर से ब्रिटिश सरकार ने जुलाई 1942 में प्रतिबंध उठा दिया और वह एक भूमिगत पार्टी से खुली पार्टी बन गयी। दिसम्बर 1942 में जब यह स्पष्ट होने लगा था कि सोवियत सेनायें अब और पीछे नहीं हटेंगी और फरवरी 1943 में जब जर्मन सेनापति ने स्तालिनग्राद के मोर्चे पर आत्मसमर्पण कर दिया और पूरी दुनिया के लिये यह बात साफ हो गयी कि विश्व-युद्ध में वह निर्णायक मोड़ आ चुका है जहां से फासीवादी शक्तियों की शिकस्त शुरू होती है, तब भी सी.पी.आई. ने अपने वर्ग-सहयोगी रणकौशल नहीं बदले। उसने ब्रिटिश सरकार को अपना समर्थन जारी रखा और बदले में मई 1943 में बम्बई में एक खुली पार्टी की हैसियत से उसे अपनी प्रथम कांग्रेस करने का मौका मिला। कुल बात यह कि 1941 के अंत तक जो चीज क्रांतिकारी जन-दिशा थी, उसके बाद के काल में वह चीज दक्षिणपंथी पुछल्लावाद ही नहीं, सीधे-सीधे वर्ग-सहयोग में तब्दील हो गयी। अपनी अगुवाई में खड़ा किया गया क्रांतिकारी उभार कम्युनिस्टों के हाथ से निकल कर कांग्रेस पार्टी के कलंकित इतिहास का शौर्यपूर्ण पन्ना बन गया।

सी.पी.आई. ने स्वयं 1939-41 के दिनों का जो सार-संकलन किया है उसमें उन दिनों की लाइन को 'दुस्साहसवादी' (adventurist) कहा गया है। इम इस सार-संकलन से असहमत हैं। हमारी नजर में सी.पी.आई. की समझदारी की तीन बड़ी कमियों के कारण वह क्रांतिकारी जन-दिशा पर अमल की सही शुरूआत के बावजूद उसे आगे विकसित नहीं कर पायी और वह इतिहास बनाने से चूक गयी। ये हैं-

1- सामान्य समयों में तो पार्टी के पास एक कारगर भूमिगत ढांचा होना ही चाहिए मगर जन-उभार के शुरू होते ही उसे और कसने की जरूरत होती है। जन-उभार की अगुवाई करने वाली किसी पार्टी के यदि 480 नेता गिरफ्तार हो जायें तो यह अपने आप में कोई मामूली आघात नहीं होता है। ऐसी घटना अपने तयीं ही इस बात को तय कर देती है कि वह पार्टी अपनी क्रांतिकारी जन-दिशा को और आगे विकसित नहीं कर पायेगी।

सी.पी.आई. की कमजोरी यह थी कि वह संघर्ष के खुले रूपों के साथ उसके गुप्त रूपों का सामंजस्य बैठाने में निपुण नहीं थी। उसकी यह कमजोरी उसे बहुत भारी पड़ी। बाद के दिनों कम्युनिस्ट आंदोलन की भी यह कमजोरी उजागर होती रही है और आज भी यह हमारे आंदोलन की कमजोरी है। आज भी हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी संगठन जन-संघर्ष के खुले तौर-तरीकों का सामंजस्य अपने पार्टी-संगठनों के भूमिगत ढांचे के साथ नहीं बैठा पाते हैं और परिस्थितियों के दबाव में सामान्यतः उनका गुप्त ढांचा खुल जाता है। कई एक

मार्क्सवादी-लेनिनवादी पार्टी-संगठनों की हालत तो इतनी बुरी हो चुकी है कि आज कल उन्होंने गोपनीय ढांचे के निर्माण पर ध्यान ही देना बंद कर दिया है।

2- 1941 के अंत में जब सी.पी.आई. आम बगावत के अपने आह्वान से पीछे हटी तब वह जानती थी कि जन-उभार अभी समाप्त नहीं हुआ है। ऐसी अवस्था में यह स्वाभाविक था कि यदि कोई राजनीतिक ताकत उतने उग्र नारे न भी दे जो कि सी.पी.आई. दे रही थी तब भी यदि वह राष्ट्रीय आजादी की आधी-अधूरी बात भी करती तो भी उसे नेतृत्व की स्थिति हासिल हो जाती क्योंकि सी.पी.आई. इस जिम्मेदारी से पीछे हट चुकी थी। ऐसा ही हुआ। समझौतापरस्त कांग्रेसियों ने मौके का फायदा उठाया और "भारत छोड़ो" का नारा देकर जन-आंदोलन का नेतृत्व हथिया लिया।

1941 के अंत की यह उलट-बासी जिसमें सी.पी.आई. ने साम्राज्यवाद से मुक्ति की जगह 'राष्ट्रीय सरकार' का नारा दिया एक ऐसी चूक है जिसमें जन-समुदाय के संकल्प, उसकी आकांक्षाएं, उसकी मनोदशा की सीधे-सीधे अवहेलना की गयी जब कि जन-समुदाय का संकल्प व आकांक्षाएं किसी भी मायने में प्रतिक्रियावादी नहीं थे। इस गलती को सी.पी.आई. ने तब भी जारी रखा जब फरवरी 1943 के बाद विश्व युद्ध में फासीवादी शक्तियों की शिकस्त शुरू हो चुकी थी। इंसाफ के संघर्षों में जब जनता लड़ना चाहे, तब उसकी अगुवाई न करना एक अक्षम्य गलती होती है। सी.पी.आई. ने तो इससे भी बुरा किया, उसने 'राष्ट्रीय सरकार' का नारा दिया।

3- 1939 के उत्तरार्ध में जो आंदोलन शुरू हुआ उसका बिगुल मजदूर वर्ग ने ही बजाया था और पूरे समाज के स्तर पर वह साम्राज्यवाद से पूर्ण मुक्ति के संघर्ष के नेता के बतौर स्थापित होता जा रहा था। 1940-41 में उसकी पार्टी के नारे जन-जन के नारे बनते जा रहे थे। ऐसी स्थिति में यदि सी.पी.आई. ढीली न पड़ती और क्रांतिकारी जन-दिशा का दक्षता से विकास करती तो जन-उभार में ऐसी मंजिल आती जब राष्ट्रव्यापी आम राजनीतिक हड़ताल का आह्वान किया जा सकता था। और इसी विकास क्रम में ऐसा मुकाम भी आता जब मजदूर हथियार बंद संघर्ष की आवश्यकता महसूस करते। मगर सरकारी दमन का सामना करने में अक्षम सी.पी.आई. स्वंय सांगठनिक तौर पर अस्त व्यस्त हो गयी, गृह-युद्ध के संचालन के हिसाब से उसकी तैयारियां बहुत कमजोर थी, नतीजा यह हुआ कि जुलाई 1941 में दिये गये नारे "वर्तमान युद्ध को एक क्रांतिकारी युद्ध में बदल दो" को वह सांगठनिक तौर पर लागू करने की ही स्थिति में नहीं थी और राष्ट्रव्यापी आम-राजनीतिक हड़ताल और मजदूरों के नेतृत्व में हथियार बंद संघर्ष की स्थितियां अस्तित्व में ही नहीं आ पायीं। नई व ज्यादा चुनौतीपूर्ण स्थितियों के लिए अपर्याप्त तैयारी तो सी.पी.आई. की गलती थी ही परन्तु उसने इस दौरान इससे भी बड़ी गलती की।

सी.पी.आई. की सबसे बड़ी गलती यह थी कि उसने अपने ही वर्ग, मजदूर वर्ग, को वैचारिक तौर पर नि:शस्त्र करने की गलती कर दी। देओली जेल में बंद सी.पी.आई. के नेताओं ने सोवियत संघ पर हमले के पश्चात के विश्व युद्ध को "जन-युद्ध" की संज्ञा दी और यह ऐलान किया कि भारत के लोगों को ब्रिटिश सरकार की युद्ध मुहिम में इसलिए हाथ बंटाना चाहिये क्यों कि इससे सोवियत संघ की मदद होती है। इससे भी आगे बढ़कर सितम्बर 1942 से सी.पी.आई. ने मजदूरों व अन्य मेहनतकशों से कहा कि वे "जन-युद्ध" को विजय की ओर बढ़ाने के लिए "उत्पादन अभियान" में हाथ बंटाये, अथार्त् ज्यादा से ज्यादा उत्पादन करें। अपने ही वर्ग, जिस वर्ग ने 1939 में जन उभार की शुरूआत की थी और जो 1941 के अंत तक इसके नेता के बतौर स्थापित था, को सड़कों से लौट कर फैक्टरियों में खटने का नारा देकर सी.पी.आई. ने मजदूरों का जो वैचारिक नि:शस्त्रीकरण किया वह हमारे देश के इतिहास में एक बहुत बड़ी गलती थी। राष्ट्रीय आंदोलन का नेतृत्व करने का जो आत्मविश्वास मजदूर वर्ग में पैदा हुआ था वह टूट गया और उसके बाद के इतिहास में, राष्ट्रीय पैमाने के संघर्षों में मजदूर वर्ग आज तक अन्य वर्ग-शक्तियों का पुछल्ला ही बना रहा है। अपने वर्ग का वैचारिक नि:शस्त्रीकरण सी.पी.आई. की सबसे बड़ी गलती थी।

यहां हम इस बात का विश्लेषण नहीं कर रहे हैं कि 1941-43 के काल में सी.पी.आई. ने जो गलतियां कीं उनकी जड़ में क्या कमियां/कमजोरियां थीं। इसके लिए सी.पी.आई. के समग्र इतिहास और उस दौर के संदर्भ की विवेचना जरूरी होगी। यह एक बड़ा काम है और इस आलेख की सीमाओं में इसे नहीं समेटा जा सकता है। अभी हम उस दौर में सी.पी.आई. के दक्षिणपंथी भटकाव के लिए जिम्मेदार तीन बड़ी गलतियों को चिह्नित कर रहे हैं। वे हैं- जन उभार के संचालन व आम-बगावत के आह्वान के लिए निहायत जरूरी पार्टी के भूमिगत ढांचे का कमजोर होना, जन-आंदोलन से तब पीछे हटना जब जनता लड़ने के लिए तैयार हो व अपने ही वर्ग और मित्र-वर्गों का वैचारिक नि:शस्त्रीकरण।

1967 से 1972

मई 1967 में नक्सलबाड़ी का किसान विद्रोह अचानक नहीं हो गया। मई 1967 की घटना उस जन उभार की निरंतरता थी, और उसके उच्च मंजिल में दाखिल होने की सूचक थी, जो कि 1964 से शुरू हुआ था। पूरे भारत देश में प्रतिक्रियावादी शासक वर्ग के खिलाफ जुझारू जन-संघर्ष 1964 से खड़े होने शुरू हो चुके थे। मजदूरों द्वारा हड़तालों और घेरावों की एक लहर पूरे देश में अस्तित्व में आ चुकी थी, शहरी पेटी-बुर्जुआ मुलाजिम बेहतर तनख्वाहों व बेहतर जीवन स्थितियों के लिए संघर्षरत थे। किसानों में हलचल थी और विद्यार्थी सड़कों पर उतर रहे थे। इस जन-उभार ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अलगाव को बढ़ाया था और शासक वर्गों के बीच के मतभेदों को

तीखा किया था। इस राजनीतिक फिजा में नक्सलबाड़ी की घटना घटी और अगस्त-सितम्बर 1967 में ही श्रीकाकुलम के गिरीजन किसानों का क्रांतिकारी संघर्ष शुरू हो गया। नवम्बर 1967 में भारत के कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों ने अखिल भारतीय तालमेल कमेटी का गठन किया जो कि एक सही व निहायत जरूरी कदम था। 22 अप्रैल 1969 के दिन भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी- लेनिनवादी) के गठन की घोषणा और खुद को भंग किये जाने की घोषणा AICCCR ने की जो कि हमारी नजर में गलत कदम था। भारत की कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी- लेनिनवादी) पहले से विद्यमान कम्युनिस्ट ग्रुपों (एवं AICCCR) से किसी भी मायने में उच्च विचारधारात्मक-राजनीतिक परिपक्वता पर गठित संगठन नहीं थी। इसकी चेतना अन्य कम्युनिस्ट ग्रुपों के स्तर की ही थी और किन्ही मामलों में उनसे भी कमजोर थी। मगर हम यहां पर AICCCR एवं C.P.I. (M.L.) के गठन एवं उसके बाद के कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन की समीक्षा नहीं करेंगे। यहां हम अपनी नजर केवल उस क्रांतिकारी जन-दिशा पर केन्द्रित रखेंगे जिसने दिसम्बर 1968 आते-आते नक्सलबाड़ी व श्रीकाकुलम के अलावा मुशहरी, देबरा-गोपी बल्लभपुर, लखीमपुर- खीरी, भीखी-समाओ के किसान संघर्षों के साथ-साथ छात्रों नौजवानों के संघर्षों का क्रांतिकारीकरण किया और फिर आगे नहीं बढ़ पायी क्योंकि वह वामपंथी भटकावों का शिकार हो गयी। यहां हम मुख्यतः उन 'वामपंथी' भटकावों को चिह्नित करेंगे जिनके कारण जन के संघर्षों का जन-चरित्र गायब हो गया और कम्युनिस्ट क्रांतिकारी अपने समर्पण व बलिदान के बावजूद पुनः एक राष्ट्र-व्यापी राजनीतिक लहर को आगे बढ़ाने व नेतृत्व देने में विफल रहे।

नक्सलबाड़ी वह प्रतिनिधिक उदाहरण है जो कि पहले क्रांतिकारी जन-दिशा के लागू होने और फिर उसके भटकावग्रस्त हो जाने को बहुत तीखेपन के साथ अभिव्यक्त कर देता है। मार्च 1967 में सिलिगुड़ी तहसील की किसान सभा का अधिवेशन हुआ। इसने किसानों का आह्वान किया कि :

I- गांव के स्तर के सभी मामलों में किसान समितियों का प्राधिकार कायम किया जाय।

II- जोतदारों व ग्रामीण प्रतिक्रियावादियों के प्रतिरोध को कुचलने के लिए संगठित व हथियारबंद हो जाओ।

III- जमीन पर जोतदारों के एकाधिकार को समाप्त करके किसान समितियों के जरिये भूमि का पुनर्वितरण करो।

मार्च 1967 के अंत से अप्रैल 1967 तक लगभग सभी गांव एक क्रांतिकारी लहर की तरह संगठित हो गये। किसान सभा की सुस्तायी हुई 5,000 सदस्यों की गिनती 40,000 सक्रिय सदस्यों में तब्दील हो गयी और इन्होंने 90% ग्रामीण आबादी को संगठित कर लिया। मई 1967 से जोतदारों के भूमि-पत्र जलाये जाने लगे, साहुकारों के रेहन-पत्र व बही-खाते जलाये जाने लगे, रेहन में दी गयी जमीनों व मवेशियों की वापसी हुई, जमाखोरी का अनाज व अन्य खाद्य सामग्री बांटी गयी, मुखबिरों और बुरे शरीफजादों के गले में जूतों की मालाएं डाल कर उनके जुलूस निकाले गये और इनमें से कइयों को जान से मार डाला गया, गांव की सुरक्षा के लिए सुरक्षा दस्ते गठित किये गये, बुर्जुआ न्यायालयों के कानून की जगह किसानों की सत्ता का प्राधिकार स्थापित किया गया इत्यादि इत्यादि। जो नक्सलबाड़ी में घटा (या फिर किया गया) वैसी ही चीजें जन कार्यवाहियों के जरिये श्रीकाकुलम, मुशहरी, देबरा- गोपी बल्लभपुर इत्यादि क्रांतिकारी किसान आंदोलन के अन्य केन्द्रों में की गयी। क्रांतिकारी किसान संघर्षों के इस ज्वार ने छात्रों में अभूतपूर्व क्रांतिकारी उत्साह पैदा किया और वे अपनी शैक्षिक गतिविधियां छोड़कर क्रांति के ज्वार में कूदने लगे। इन आरंभिक सफलताओं के बाद हम कम्युनिस्ट क्रांतिकारी अपनी क्रांतिकारी जन-दिशा को आगे नहीं ले जा पाये और हम भटकाव ग्रस्त होने लगे। जन-दिशा की हमारी गलत समझदारी के कारण हमसे कई गलतियां हुईं।

सामान्यतः यह माना जाता है कि नक्सलबाड़ी आंदोलन वहां से भटक गया जब का. चारू मजूमदार ने जमींदारों और शासकों को छः इंच छोटा करने की लाइन दे दी (और उसमें भी जनता के दुश्मनों को छोटे गोपनीय दस्तों द्वारा गोपनीय कार्यवाहियों में मारने की लाइन दे दी) या यह ऐलान कर दिया कि 'जिसके हाथ वर्ग शत्रु के खून से सने नहीं हैं, वह कम्युनिस्ट नहीं है'। हम इस सार संकलन से सहमत नहीं हैं। हमारा मानना है कि ये गलत बातें का. चारू मजूमदार एवं उनके सहयोगियों की भटकावग्रस्त कार्यवाही के अन्तिम पड़ाव को अभिव्यक्त करती है जहां पहुंचते-पहुंचते वह एक विशुद्ध 'वाम' आतंकवाद में परिणत हो चुकी थी। हमारा मानना है कि दरअसल क्रांतिकारी जन-दिशा से भटकावों की शुरूआत तो काफी पहले हो चुकी थी और यदि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी उन गलतियों का ठीक से सार-संकलन नहीं करेंगे तब हम भविष्य में भी क्रांतिकारी जन-दिशा लागू नहीं कर पायेंगे भले ही हम गोपनीय व्यक्तिगत सफाया करने की गलती न करें। हमारी नजर में नक्सलबाड़ी आंदोलन के दौर में निम्न प्रमुख गलतियां हुईं जिनके कारण 1968 के बाद क्रांतिकारी जन-दिशा से हम भटक गये :

1- जन गोलबंदी की आरंभिक कोशिशों (व सफलताओं) के पश्चात कम्युनिस्ट संगठनकर्ताओं ने अपने संघर्ष-क्षेत्रों में अपने जनाधार के विस्तार एवं उसके सुदृढ़ीकरण के गम्भीर प्रयास नहीं किये। नतीजतन जनाधार का फैलाव ठहर गया और फिर सिकुड़ने लगा। यह सार संकलन 'तराई रिपोर्ट' से भी उभर कर आता है और उस दौर की अन्य रिपोर्टों से भी। जनाधार के विस्तार की सतत कोशिशों के अभाव से ज्यादा बड़ी समस्या निर्मित जनाधारों के सुदृढ़ीकरण की थी। जनाधारों के सुदृढ़ीकरण का काम जनांदोलन की स्वतः स्फूर्त गति के हवाले कतई नहीं छोड़ा जा सकता है। यह पार्टी-संगठन का काम होता है और इसके लिए पार्टी को राजनीतिक कार्यक्रम लेने होते हैं। उस दौर का पार्टी संगठन इस गम्भीर दायित्व का निर्वाह करने में अक्षम था यद्यपि उसके समक्ष कई ऐसे मौके आये जब अपने जनाधारों में

वह इस काम को बखूबी कर सकती थी। मिसाल के तौर पर 1968 के मध्यवर्ती चुनावों को ले लिया जाय। अपनी मई 1968 की बैठक में AICCCR ने एक गलती तो यह की कि उसने चुनावों में हिस्सेदारी या बहिष्कार को रणकौशल का सवाल मानने के बजाय पथ का सवाल माना और भारत के लिए बहिष्कार की लाइन को एक रणनीतिक लाइन के बतौर प्रतिपादित कर दिया (यह लेनिन की शिक्षाओं का निषेध था) इसके ऊपर की गलती यह कि AICCCR की मई 1968 बैठक ने यह सपष्ट नहीं किया कि चुनावों के बहिष्कार के समय पार्टी कार्यकर्ता क्या करेंगे। नतीजा यह निकला कि अल्प विकसित पार्टी कार्यकर्ताओं ने संसदीय राजनीति के पर्दाफाश का अभियान चलाने के बजाय चुनाव प्रत्याशियों, उनके समर्थकों और वोट डालने के केन्द्रों पर हमले कर डाले। जहां हमें संसदीय रास्ते का पर्दाफाश करके अपने इलाकों में जनता की चेतना उन्नत करनी चाहिये थी, वहां हमने ऐसी "सूरमायी गतिविधियां" कीं जिनसे जनता और हमारे बीच अन्तर्विरोध उठ खड़े हुए। ये घटनाएं दिखाती हैं कि अपने आधार क्षेत्रों के सुदृढ़ीकरण के महत्वपूर्ण काम के लिए पार्टी-संगठन का ढ़ांचा कितना अक्षम था। बाद में पार्टी-संगठन के ढांचे की इस कमजोरी को चिह्नित करने के बावजूद AICCCR या 1969 के बाद CPI (M.L.) ने पार्टी ढांचे के राजनीतिकरण के लिए कोई उल्लेखनीय राजनीतिक प्रशिक्षण कार्यक्रम हाथ में नहीं लिया। ऐसी अकिंचन स्थिति में यह तय था कि जन-उभार समाप्त होते ही हमारे जनाधार हमारे पास नहीं रह सकते थे। उद्वेलन के समानान्तर सतत राजनीतिक प्रचार किसी क्रांतिकारी जन-दिशा का अविभाज्य घटक होता है। सतत राजनीतिक प्रचार के अभाव में उद्वेलन बहुत सतही और क्षण भंगुर होता है। सतत राजनीति प्रचार की कमी हमारे क्रांतिकारी जन-दिशा से भटकाव ग्रस्त होने में एक बड़ा कारक रही।

2- मई 1968 की AICCCR की बैठक ने यह सही सूत्रित किया कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को मजदूरों के आर्थिक व आंशिक संघर्षों में हिस्सेदारी करनी चाहिए। यही कार्यनीति उसने विद्यार्थियों व पेटी बुर्जुआजी के लिए प्रतिपादित की। मगर संघर्षरत किसानों के इलाकों में (नक्सलबाड़ी, मुशहरी इत्यादि के लिए) में उसने यह प्रतिपादित किया कि यहां संघर्ष जमीन के लिए नहीं, राजनीतिक सत्ता के लिए हो चुका है। दूसरे शब्दों में का. चारू ने कहा कि नक्सलबाड़ी मार्का संघर्ष हुनान किसान आंदोलन की मंजिल से आगे बढ़ गये हैं और गुरिल्ला युद्ध की अवस्था में दाखिल हो गये हैं। बाद में जैसे-जैसे का. चारू भारतीय क्रांति के प्राधिकार के बतौर स्थापित होने लगे वैसे-वैसे उन्होंने इस गलत लाइन का सामान्यीकरण करना शुरू किया। अर्थात पूरे देश के लिए उन्होंने किसानों के आर्थिक व आंशिक संघर्षों की अहमियत को घटाना शुरू किया। इस तथ्य को नजर अंदाज करते हुए कि किसानों के आर्थिक व आंशिक संघर्ष ही वे माध्यम थे जिन्होंने प्रथमतः हमें मेहनतकश जन से जुड़ने का सुअवसर दिया था, का. चारू ने इन संघषों को संगठित करने वाली किसान सभाओं को ही खारिज करना शुरू किया। उन्होंने ऐलान किया कि किसान सभाएं अब अप्रासंगिक हो गयी हैं और देहात में सशस्त्र संघर्ष में बाधाएं पैदा कर रही हैं। दूसरे शब्दों में का. चारू और उनके अनुयायियों का भटकाव इतना जबर्दस्त था कि उन्होंने जन के उस सांगठनिक रूप का ही विनाश करना शुरू किया जो कि जन और कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों के बीच सेतु था।

जनसंगठन के रूपों व जन संघर्ष के प्राथमिक मुद्दों को नकारने की जो गलती, किसान मोर्चे पर हुई वह मजदूर मोर्चे पर भी दोहरायी गयी। CPI (M.L.) के गठन के पश्चात का. चारू ने कहना शुरू किया कि जब से पूंजीपतियों ने तालाबंदी करनी शुरू की है तब से आम हड़ताल कोई कारगर हथियार नहीं रह गया है। ट्रेड-यूनियनों के सम्बन्ध में "Our Party's Tasks Among The Worker's" में का. चारू की स्पष्ट लाइन है कि इनसे अब मजदूर वर्ग अपनी रक्षा नहीं कर सकता है। अतः यदि मजदूर ट्रेड-यूनियनों में जाते हैं तो जाते रहें, हम कम्युनिस्ट क्रांतिकारी न तो इन्हें खड़ा करेंगे, न इन्हें अपने संचालन में लेंगे। दूसरे शब्दों में यदि ये संशोधनवादियों के कब्जे में हैं तो हम उन्हें उनके कब्जे व प्रभाव से मुक्त नहीं करवायेंगे। मजदूरों के अगुवा तत्वों के लिए का. चारू के द्वारा निरूपित मुख्य कार्यभार यह था कि वे अपने वर्गीय रिश्तों को तिलांजली देकर देहात में किसानों के संघर्ष में जाकर हिस्सेदारी करें। 1970 के आरम्भ की ये बातें मजदूर वर्ग के स्वतंत्र संगठन की पूरी थीसिस का ही निषेध हैं। मात्र दो वर्ष के भीतर यह उस लाइन से पलटी है जिसे AICCCR ने मई 1968 में मजदूर वर्ग में पार्टी के काम के लिए सूत्रित किया था। का. चारू की इन गलत प्रस्थापनाओं ने देश के अधिकांश मजदूरों को संशोधनवादियों के चंगुल में फंसे रहने का शाप दे दिया।

मेहनतकश जन के आर्थिक व आंशिक संघर्षों के प्रति और उन संघर्षों को चलाने के प्रति यह तिरस्कार भरा रुख, क्रांतिकारी जन-दिशा से एक गम्भीर भटकाव है।

3- मार्क्स-एंगेल्स के जमाने से कम्युनिस्ट क्रांतिकारी यह मानते आये हैं कि संयुक्त मोर्चे के बिना क्रांति सम्भव नहीं है। इस संयुक्त मोर्चे का आधार मजदूर -किसान संश्रय होगा (कम से कम उन मुल्कों में जहां किसान ठीक-ठाक तादाद में हैं) क्रांतिकारी वर्गों के इस संयुक्त मोर्चे को मजदूर वर्ग नेतृत्व प्रदान करेगा। मगर नक्सलबाड़ी आंदोलन के दौरान इसके गठन के प्रति निहायत गैर-जिम्मेदाराना रुख अपनाया गया। इसके गठन को तब तक मुल्तवी करने की बात की गयी जब तक देश में सशस्त्र संघर्ष इतना विकसित न हो जाता कि देश के किन्हीं हिस्सों में लाल सत्ता स्थापित न हो जाती। मई 1970 का पार्टी कार्यक्रम कहता है –

> "33. परन्तु इस मोर्चे का निर्माण तभी हो सकता है जब सशस्त्र संघर्ष के जरिये मजदूर-किसान एकता हासिल की जा चुकी हो और देश के कुछ हिस्सों मे लाल राजनीतिक सत्ता कायम हो चुकी हो। **(A Libration Anthology, Vol.II, page-15)**

यदि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी इतनी बेतुकी प्रस्थापना को मान लेते हैं और वे वर्ग-संघर्ष की आरम्भिक अवस्था में ही संयुक्त मोर्चे की स्थापना के लिए प्रयासरत नहीं रहते हैं तो वे कभी भी क्रांति के काम को आरम्भिक अवस्थाओं से आगे नहीं बढ़ा पायेंगे। संयुक्त मोर्चे की स्थापना संघर्षरत जन की ताकत को कई गुना बढ़ा देता है, और उसकी स्थापना के पश्चात समाज के पिछड़े तत्वों को भी समाज परिवर्तन की सम्भावनाएं दिखाई देने लगती हैं। संयुक्त मोर्चे की स्थापना के उपरांत मेहनतकश जनता के पिछड़े संस्तरों की विशाल आबादी क्रांति कर्म की ओर आकर्षित होने लगती है। मगर CPI(M.L.) ने संयुक्त मोर्चे के गठन को मुल्तवी करके क्रांतिकारी जन-दिशा को लागू करने से इंकार किया।

4- फरवरी 1970 में (पार्टी की 8 वीं कांग्रेस के पहले ही) का. चारू मजूमदार ने **"A Few Words About Guerrilla Action"** नामक लेख में सशस्त्र संघर्ष के सम्बन्ध में उस सोच को प्रस्तुत किया जो कि नक्सलबाड़ी आंदोलन के बाद के दौर में लागू होती रही। उन्होंने जन-संगठन से पूर्णतः विच्छेदित, पूर्णतः गुप्त गुरिल्ला दस्तों की अवधारणा रखी। अधिकतम सात आदमियों के ये दस्ते एक पूर्ण-षड़यंत्रकारी कार्यवाही के तहत खड़े किये जाने थे और यह षड़यंत्र इतना मुकम्मिल होना था कि पार्टी की स्थानीय राजनीतिक इकाइयों को भी इनकी भनक नहीं लगने देनी थी। इन्हें अपनी कार्यवाही को गुपचुप अंदाज में अंजाम देना था यानी कि खुफिया ढंग से वर्ग शत्रुओं का वध करना था और सारे सबूत मिटाते हुए घटना स्थल से गायब हो जाना था।

गुरिल्ला दस्तों की ऐसी अवधारणा, जो कि जन-संगठनों व जन-संघर्षों से पूर्णतः कटे हुए हों वह विलक्षण थीसिस थी जिस की तार्किक परिणति इस आतंकवादी सूक्ति में हुई "जिनके हाथ वर्ग-शत्रु के खून से सने हुए नहीं हैं, वे कम्युनिस्ट नहीं हैं।" इस सूक्ति के आधार पर 1848 के कम्युनिस्ट घोषणा पत्र के लेखक भी कम्युनिस्ट नहीं थे।

1967 से 1972 के कालखंड में हम जो गलती कर रहे थे वह यह थी कि हम जन-समुदाय पर अपना संकल्प लादने की कोशिशें कर रहे थे। हम जन-समुदाय के साथ वह रिश्ता नहीं विकसित कर रहे थे, जन-समुदाय का उस ढंग से प्रशिक्षण नहीं कर रहे थे कि वह अपना संकल्प स्वयं ले। कम्युनिस्ट क्रांतिकारी होने के बावजूद हमें जन-समुंदाय को आत्म-निर्णय का मौका नहीं दे रहे थे। यह हमारी बुनियादी गलती थी जिस कारण से हम जन-संघर्ष व संगठन के निम्न रूपों को नकार कर उस पर उच्चतम रूप थोपते रहे। इस थोपने को जन-समुदाय ने कभी स्वीकार नहीं किया, वह हम से विरक्त होता गया और हम क्रांतिकारी जन-दिशा के अमल से कोसों दूर वस्तुतः आतंकवादी हो गये। 70 के दशक को मुक्ति का दशक बना देने के अपने सपने को साकार करने के उतावलेपन में हम यह बात भी भूल गये कि मार्क्सवादियों द्वारा संचालित हर युद्ध चाहे वह गुरिल्ला युद्ध हो या नियमित सेनाओं के आधार पर लड़ा जाने वाला सशस्त्र संघर्ष, हमेशा ही एक जन-कार्यवाही होती है। अर्थात संघर्ष के अन्य रूपों की तरह वह भी एक ऐसी क्रिया होनी चाहिए जिसमें आम जन की पहल कदमी खुलती हो। इसके ठीक उलटे नक्सलबाड़ी के बाद के दौर के सशस्त्र संघर्ष से जन-समुदाय कटने लगे।

यहां हम ने 1939-1943 और 1967-1972 के दो काल खंडों के दौरान क्रांतिकारी जन-दिशा के प्रयोग की समीक्षा की। इन्हीं दोनों काल खण्डों को हमने विशिष्ट तौर पर इसलिए चुना क्योंकि ये क्रांतिकारी जन-दिशा से दो तरह के भटकावों को पुरजोर तरीके से अभिव्यक्त करते हैं।

III
क्रांतिकारी जन-दिशा के सम्बन्ध में दो और जरूरी बातें

आलेख की समाप्ति के पहले क्रांतिकारी जन-दिशा से सम्बन्धित दो और महत्वपूर्ण प्रश्नों पर हम अपना मत प्रकट करना चाहेंगे। ये हैं– जन-संगठनों की प्रकृति तथा सर्वहारा की अग्रणी भूमिका।

■ हमारे आंदोलन में कई एक कम्युनिस्ट क्रांतिकारी पार्टी-संगठन जिन जन-संगठनों की स्थापना करते हैं उन्हें वे मार्क्सवाद-लेनिनवाद-माओ विचारधारा पर आधारित करते हैं। अर्थात वे विचारधारा पर आधारित जन-संगठनों का गठन करते हैं। उन जन संगठनों के घोषणापत्र या कार्यक्रमों में विचारधारा को सदस्यता की शर्त बनाया जाता है। यह गलत है। यह क्रांतिकारी जन-दिशा का निषेध है। यह गलत इसलिए नहीं है क्योंकि मानव इतिहास में कभी भी विचारधारा पर आधारित जन-संगठन नहीं खड़े किये जा सकते हैं। यह इसलिए गलत है क्योंकि मानव इतिहास के वर्तमान दौर में कम्युनिस्ट विचारधारा पर आधारित जन-संगठन नहीं खड़े किये जा सकते हैं क्योंकि अभी समाज में कम्युनिस्ट विचारधारा की स्वीकार्यता बहुत कम है।

जन-दिशा के संदर्भ में जन-संगठनों का एक ही अर्थ है। ऐसे मंच जिन की मूल बातें व गतिविधियां आम जन के लिए बोधगम्य हों, जिनमें वे हिस्सेदारी कर सकें और पहलकदमी ले सकें। ये ऐसे मंच होते हैं जो कि अपनी परिधि के भीतर व्यापक जन-समूह को समेटने की संभावना लिए होते हैं। ये मंच राजसत्ता के लिए खुले व गोपनीय दोनों तरह के हो सकते हैं। व्यापक दमन की स्थितियों में गैर-कानूनी गोपनीय जन-संगठनों के निर्माण के सफल प्रयोग कई मुल्कों में हुए हैं। आज के माहौल में जब कम्युनिस्ट विचारधारा की व्यापक स्वीकार्यता नहीं है तब ऐसे खुले मंच तो गठित किये जा सकते हैं जो कि कम्युनिस्ट विचारधारा के भौंपू हों। मगर तब हमें मान लेना होगा

कि ये व्यापक जन के मंच नहीं बन पायेंगे, कि इनका कोई जन-चरित्र नहीं उभर पायेगा, कि ये जन-संगठन नहीं होंगे। आज के दौर में कम्युनिस्ट यदि अपनी क्रांतिकारी जन-दिशा को लागू करने के लिए कोई जन-संगठन गठित करते हैं तो उन्हें राजनीति व कार्यक्रम आधारित जन-संगठन ही खड़े करने होंगे, वे इससे उन्नत चेतना वाले जन-संगठन गठित तो कर लेंगे मगर उनमें व्यापक जन को क्रियाशील नहीं कर पायेंगे।

■ हमारे कम्युनिस्ट क्रांतिकारी आंदोलन में एक धारणा यह बैठी है कि नव जनवादी क्रांति के लिए यदि सर्वहारा की गोलबंदी पर कम ध्यान दिया जाय और किसानों की गोलबंदी पर केन्द्रित किया जाय तो यह कोई बड़ी गलती नहीं है। ऐसे साथी मानते हैं कि नव-जनवादी क्रांति में सर्वहारा अपनी पार्टी के जरिये अपनी नेतृत्वकारी भूमिका का निर्वाह करता है, कि वह प्रत्यक्षतः एक भौतिक वर्ग के बतौर इस कार्य को नहीं करता है।

क्रांतिकारी जन-दिशा के सम्बन्ध में यह अवधारणा ठीक नहीं है। समाजवादी क्रांति में तो सर्वहारा की बढ़ी हुई भूमिका होती ही है, नव-जनवादी क्रांति में भी उसकी अग्रणी भूमिका वास्तविक संघर्षों में व संयुक्त मोर्चे में तब ही बन सकती है जब कम्युनिस्ट उस पर विशेष ध्यान दे कर उसे अलग से गोलबंद करें। सर्वहारा वर्ग को अलग से गोलबंद करने के अलावा, यह भी जरूरी है कि कम्युनिस्ट क्रांतिकारी उसे अन्य मित्र वर्गों को नेतृत्व प्रदान करने के लिए भी प्रशिक्षित करें। यदि ऐसा नहीं किया जायेगा तो एक संगठित वर्ग की हैसियत से दूसरे वर्गों की चेतना के विकास में सर्वहारा वर्ग जो भूमिका अदा करता है वह नहीं निभा पायेगा। इसलिए सर्वहारा को न केवल अलग से गोलबंद किया जाना चाहिए बल्कि उसकी यह गोलबंदी क्रांति के लिए होनी चाहिये और इस स्पष्ट समझदारी के साथ की जानी चाहिए कि सर्वहारा को एक संगठित वर्ग की हैसियत से समाज के अन्य वर्गों/तबकों की क्रांति में अगुवाई करनी है। इस आलेख में अभिव्यक्त अन्य महत्वपूर्ण बातों के अलावा हमें इस बात पर विशेष ध्यान देना होगा कि हम सर्वहारा वर्ग को समग्र सामाजिक संघर्ष और विशेषतः संयुक्त मोर्चे में नेतृत्व प्रदान करने के लिए तैयार करें। यह प्रशिक्षण कार्य एक सतत् कार्यवाही है जिसकी अवहेलना करने पर क्रांतिकारी जन-दिशा लागू नहीं हो सकती है।

■■■